प्रफुल्ल कोलख्यान

नये इलाके में दुनिया रोज बनती है

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को मूल्य-चेतना को लोक-मंगल की सापेक्षता में समझने का प्रस्ताव किया था। मंगल की मौलिक आकांक्षा परिभाषित-अपरिभाषित रुप में साहित्य सृजन के मूल में हुआ करती है। इधर बहुत तेजी से लोक भी बदला है और उसके मंगल का स्वरूप भी। यही नहीं, बदलाव के विभिन्न आयामों से साहित्य के कथ्य और रुप के नये संदर्भ जुड़े हैं। साहित्य आलोचना के अपने प्रारूप में यह बदलाव उतनी तीव्रता से नहीं आ पाया है -- खासकर हिंदी आलोचना में। इसके कई कारण हो सकते हैं जिन पर अलग से स्वतंत्र विवेचन की आवश्यकता है, लेकिन यह सच है कि आलोचना के अपने उपकरण साहित्य से प्राप्त सारांश के आधार पर विकसित न होकर, वैचारिक आकांक्षाओं और दार्शनिक प्रत्ययों के ही आधार पर विकसित हुए हैं। इसके फलस्वरूप यह देखा गया है कि आलोचना की प्रतिबद्धता आलोचक की अपनी सुविधाजन्य मान्यताओं की पुष्टि में ही अधिक मुखर हुई है। रचना के अपने प्रसंग और संदर्भ को संकेतित कर उसमें अंत:स्यूत करुणा और मंगल का अनुसंधान करती लोकचेतना के मिजाज और ग्रहणशीलता के नये आग्रहों को उदघाटित करने के सबक का आलोचना के नवाचार में कोई विमर्श बना ही नहीं है। आलोचक के लिए रचना चुनौती नहीं चेरी है। औपचारिक लोकतंत्र की स्थूल और संवैधानिक स्वीकृति के बावजूद राजनीति में शिखर से आधार को सत्यापित एवं समर्थित करने की प्रक्रिया का जारी है। इसी तरह साहित्य में अनौपचारिक लोकतांत्रिक भावनाओं की सूक्ष्म सहमति में इस प्रक्रिया का जारी रहना उसका सहज प्रतिफलन है। यह काम तब और आसान हो जाता है जब राजनीति में यथा संभव जनता को गैर जरुरी और साहित्य में पाठकों को अनुपस्थित कर दिया जाता है। एक स्वतंत्र और समृद्ध साहित्यिक विधा के रुप में हिंदी आलोचना का विकास आज भी प्रतीक्षित है। रचना और आलोचना के आपसी संवाद के न्यून होते चले जाने के कारण ही रचनाकार को अपनी संवाद की संभावना करने वाली आलोचना को गढ़ने के काम में लग जाना पड़ता है। मुक्तिबोध इसके एक महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। जब रचना और आलोचना सहचर न रह जाए, तब साहित्य को संवाद के लिए अभिव्यक्ति के भिन्न प्रकार के खतरे उठाने पड़ जाते हैं। हिंदी साहित्य में यह समय रचना में जोखिम का समय है। बाह्य-जगत और साहित्य के पारस्परिक संबंध के विधायक एवं नियामक कारकों के वास्तविक आधार तत्व तथा उपादान को समझने के प्रामणिक साधन क्या हो सकते हैं? यह भी कि बाह्य यथार्थ के विभिन्न प्रकार और स्तर की समष्टि के साथ सामान्य व्यष्टि संवेदना के तत्सम स्तर और स्वरुप समझने की पद्धति क्या हो सकती है? इस प्रसंग में पहली बात यह समझ में आयी कि समस्तरीय रचनाकारों के संतुलनात्मक अध्ययन से कुछ सर्जनात्मक सूत्र मिल सकते हैं। इसीलिए, अरुण कमल और आलोकधन्वा दोनों कवियों के रचना-संसार को साथ-साथ रखकर समझने की चेष्टा यहां की जा रही है। इस अध्ययन का उद्देश्य किसी भी रुप में हिंदी साहित्य के समकालीन पटल पर खेले जा रहे उत्थान पतन के खेल में शामिल होने का कतई नहीं है। जो लोग अपने मकान की नींव की मजबूती पर मुग्ध होकर आसन्न भूकम्प

से होनेवाली क्षति की आशंका से सहज ही मुक्त हो लेते हैं उनके उत्सव में शामिल होना या बेदखली की प्रतीति से विलाप करनेवाले लोगों की जमात में ही शामिल होना इस प्रयास का मकसद नहीं है।

अरुण कमल और आलोकधन्वा समकालीन हिंदी कविता के प्रतिष्ठित कवि हैं। यही नहीं, दोनों प्रगतिशील परिवर्तनकार्मी चेतना के संवाहक कवि है। दोनों का वृहत्तर सामाजिक, वैचारिक एवं दार्शनिक परिप्रेक्ष्य एक है। दोनों की सामाजिक राजनीतिक मान्यताएँ लगभग एक सी हैं। दोनों समवयस्क हैं। दोनों पटना में रहते हैं अर्थात दोनों को उपलब्ध भौतिक समाज तथा उसका भूगोल एक है। जाहिर है कि वे दोनों अपने उपलब्ध समाज की राजनीति आकांक्षाओं, आर्थिक अपेक्षाओं, सांस्कृतिक जरुरतों एवं संवेदन के स्थानिक तंतुओं के विभिन्न आयामों से अवगत होने का समान अवसर पाते होंगे। दोनों का जन्म बिहार में हुआ है अर्थात बिहारी होने के नफे नुकसान के लगभग एक से भागीदार हैं। ऐसा नहीं है कि असमानताएँ कम हैं, लेकिन इस अध्ययन के प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में इतनी समानताएँ पर्याप्त हैं और दोनों को एक साथ रखकर विशेष रुप से देखे जाने का औचित्य सिद्ध करने के लिए काफी हैं। अपनी केवल धार (1980) और सबूत (1989) के बाद अरुण कमल का तीसरा संकलन नये इलाके में (1996) में प्रकाशित हुआ। इन संकलनों से एक तान गुजरने पर कवि के विकास को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। कुछ प्रवृत्तियां पीछे छूटती चली गयी हैं या फिर कम प्रभावी होती चली गयी हैं तो कुछ बिल्कुल नये संदर्भो में प्रकट हुई हैं। नये इलाके में 1990 से 1995 तक की लिखी कविताएँ शामिल हैं। पचपन कविताओं के इस संकलन का नाम पहली कविता का भी शीर्षक है। यह पहली कविता और संकलन की अधिकतर कविताएँ मानव सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ उसके मनोस्वभाव के बनते हुए नये इलाके की संवेदनात्मक पुष्टि करती है। यह नया इलाका क्या है? क्या इस इलाके की पहचान, चौहद्दी सिर्फ अरुण कमल की ही कविता में हैं या इसकी गवाही समकालीन हिंदी कविता के अन्य प्रसंगों से भी मिलती है? जी हाँ, अन्य प्रसंगों से भी मिलती है लेकिन यहां तीव्रता अधिक है - अरुण कमल कवित्व में इस नये इलाके में पहुँचे कैसे? आजादी के बाद आर्थिक विकास एक राष्ट्रीय दायित्व था। श्यामाचरण दुबे ने ठीक ही रेखांकित किया है कि विकास के जिस स्तर को पाने के लिए पश्चिमी, यूरोप और अमेरिका को प्राय: दो सौ वर्ष लग गए, उसे तीसरी दुनिया के देश बीस वर्षो में ही पा लेना चाहते थे। इस असम्भव महत्वाकांक्षा के दबाव से विकास का ऐसा अव्यवस्थित दौर शुरु हुआ जिसने विकास के रुप में विनाश को जन्म दिया। विकास के लिए निश्चित ही विध्वंस की अनिवार्यता उपेक्षित नहीं की जा सकती लेकिन महत्वाकांक्षा के उस दबाव ने सब से पहले उस विवेक को विनष्ट कर दिया जो बचाने और छोड़ने के प्रयास को सार्थक बना सकता था। पुराना बचा नहीं, नया मिला नहीं या जो बचना चाहिए था बचा नहीं, जो बनना चाहिए था बना नहीं और हम उस नये इलाके में पहुंच गये जहां पहचान एक चुनौती बन गई। यहां रोज कुछ बन रहा है/ रोज कुछ घट रहा है/ यहां स्मृति का भरोसा नहीं/ एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया/ जैसे वसंत का गया पतझड़ को लौटा हूँ/ जैसे वैशाख का गया भादो को लौटा हूँ (नये इलाके में)। साथ ही "यहा वो समय है जब/ कट चुकी है खेत से फसल/ और नया बोने का दिन नहीं /...। शेष हो चुका है पुराना और नया आने को शेष है। (यह वो समय)। जी हाँ विकास के जिस रास्ते पर हम चले वह गलत था। "क्या कहते हो। शुरु से गलत था मकान का नक्शा" (आत्मा का रोकड़) इस विकास प्रसंग ने हमारी संवेदना को भोथरा किया है। इस तेज बहुत तेज चलती पृथ्वी के अन्धड़ में/ जैसे मैं बहुत सारी आवाज नहीं सुन रहा हूँ/ वैसे ही तो होंगे वे लोग भी जो सुने नहीं पाते गोली चलने की आवाज ताबाड़तोड़/ और पूछते हैं - कहां है पृथ्वी पर चीख (जैसे) परिणामत: हमारे मनो-स्वभाव में शनै:शनै: एक अमानवीय संकाय सक्रिय हो गया है - बीसियों मरे उस मोटर दुर्घटना में/ जो बचे वे भी जैसे तैसे/ एक मैं ही बचा साबूत/ और मैंने यारों को दारु पिलाई इस मौज में - / इसमें आखिर क्या बात है? (बात) निरर्थकता बोध का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। एक मंदिर की गाथा की तरह उजाड़ होती दुनिया में यह भय स्वाभाविक ही है कि फड़के एक पंख, दूसरा हिले भी नहीं (भय और यह भी कि बेकाम हो जाऊंगा बीच राह/ गिरा जूते का तल्ला "(निवृत)। लेकिन कवि को चुंबन के बीच सहसा पसीने के नमक का स्वाद बिसरा नहीं है (चेहरा)

और हर हाल में भरोसा बचाने के लिए तत्पर साथी का साथ है -" लेकिन इतना तो है कि रुक जाऊं अगर/ तो टूटेगा विश्वास/ और यही तो हर हालत में/ हमें बचाना है, चलिए साथी (यही बचाना)।

पहचान की संवेदना की बिलाती हुई दुनिया में अरुण कमल की कविता अपने पाठक से एक सार्थक संवाद की संभावना रचती चलती है। अरुण कमल की काव्य भाषा और कवित्त विवेक से जो एक सांद्र संवेदनशील भावलोक निर्मित होता है उसमें सामान्य मनुष्य के छोटे-बड़े सुख-दुख की सापेक्षिक अनुभूति का मार्मिक संस्पर्श में बने रहकर कह पाना मुश्किल होता है। दुविधा ही नहीं बहुधा विभक्त समकालीन मनुष्य की मानसिकता और लगभग आत्म प्रतिरोधी प्राथमिकताओं के तनाव से गुजरती हुई अरुण कमल की कविताएँ सामाजिक प्रवृतियों में घटित हो रहे बदलाव को काव्य प्रभाव से उजागर करती है और इस प्रकार नैतिकता की विडंबनाओं से उत्पन्न सांप्रतिक चिंता को चिंतन में और इस चिंतन को काव्य वस्तु में बदलती हुई ये कविताएँ कसमसाती हुई नम्रता के साथ दैन्य में ढलती चली जाती हैं। मुझे एक छठ्ठी में जाना है और एक श्राद्ध में "ये पंक्तियाँ राहुल सांकृत्यायन के यात्रा पर्यवेषण पर आधारित हैं। यह संकलन की अंतिम कविता है और अंतिम पंक्तियाँ भी। इन अंतिम पंक्तियों को पुस्तक के प्रारम्भ में उद्धधृत किया गया है, इसलिए अरुण कमल की कविताओ में वह धैर्य भी है जो आक्रोश को व्यक्त होने से रोकता है और इंतजार करना सिखाता है - "कोई भी इंतजार इतना ज्यादा नहीं होता कि और इंतजार न हो सके"(वृत्तांत)।

"दुनिया रोज बनती है" आलोकधन्वा की कविताओं का पहला संकलन है। आलोकधन्वा का रचनाकाल तो काफी लम्बा है लेकिन रचना घनत्व विरल है। बहुत कम लिखकर बहुत अधिक चर्चित और स्वीकृत कवि का इतने लंबे समय के बाद संकलन सुखद भी है और स्वाभाविक भी। युवा आक्रोश और चुनौती फेंकती या देती हुई आलोकधन्वा की कविताएँ हैं महत्वपूर्ण लेकिन इनके पीछे शोषण और उत्पीड़न के पारंपरिक स्वरुप की ही समझ सक्रिय है। एक आंदोलन की तीव्रता को काव्य में ढालना कठिन होता है और उससे भी कठिन होता है कविता में उस आवेग को सार्थक और स्वीकार्य रुप में बनाये रखना। आंदोलन के बदलते मिजाज, दबाव तनाव कई बार विकृतियों से बचाव की भी काव्यात्मक समझ और संगति को बनाये रखकर बदलते परिप्रेक्ष्य में संबंधों की सद्य: समुपस्थित संवेदनशीलता के मूलाधार का अन्वेषण एक कठिन सांस्कृतिक प्रभार होता है। आलोकधन्वा की कविता इस चुनौती को समझती तो जरुर है। लेकिन "जनता का आदमी", "गोली दागो", "भागी हुई लड़कियां" और ब्रूनो की बेटियां" जैसी महत्वपूर्ण कविताओं में यह समझ जितनी सक्रिय और संवेदनशील है, उसका बाद की कविताओं में निभाव कमजोर होता गया है। पतंग और कपड़ें के जूते जैसी कविताओं में तो फिर भी वह सांद्रता थोड़ी-बहुत बची हुई है जो आलोकधन्वा के काव्यत्व को प्रमाणित करती हैं लेकिन बाद की कविताएँ स्मृति से अपना प्राण रस प्राप्त कर ही आगे बढ़ती हैं। किसी भयानक संकट और समर से बच निकलने का संतोष बटोरने में लगी ये कविताएँ उस आक्रोश और आवेग से हटती हुई प्रतीत होती हैं जिस आक्रोश और आवेग ने आलोकधन्वा की कविताओं को ऐतिहासिक बनाया था। "आज सालों बाद भी मैं नहीं भूला/ माँ का शाम में गाना/ चांदनी की रोशनी में/ नदी के किनारे जंगली बेर का झरना/ इन सब को मैंने बचाया दर्द की आंधियों से" (एक जमाने की कविता)। और "किसने बचाया मेरी आत्मा को दो कौड़ी की मोमबत्तियों की रोशनी ने...दादी के लिए रोटी पकाने का चिमटा लेकर/ ईदगाह के मेले से लौट रहे नन्हें हामिद ने/ और छह दिसंबर के बाद/ फरवरी आते-आते/ जंगली बेर ने/ इन सबने बचाया मेरी आत्मा को (किसने बचाया मेरी आत्मा को)। बचने और बचाने की इस प्रक्रिया को समझें तो सूखे पत्तों की आग, मिट्टी के बर्तनों, पुआल के बिस्तर और पुआल के रंग के चांद द्वारा बचाये जानेवालों की जिंदगी को मोमबत्तियों की रोशनी नसीब नहीं होती और न मोमबत्तियाँ ही दो कौड़ी की होती है क्योंकि खुद दो कौड़ी भी उनके अर्थशास्त्र में दो कौड़ी की नहीं होती। पतंग महत्वपूर्ण कविता है। जिसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं - पृथ्वी और भी तेज घूमती हुई आती है/ उनके बेचैन पैरों के पास"। कविता का बनाव जब संवेदना और वास्तविक पीड़ाओं के एवजी के रुप में भाषा-शक्ति को स्थान और

सम्मान देने लगता है तो खुद कविता इसका पता बता देती है। कोई पूछे कि भैया बेचैनी पैर में है तो भला पृथ्वी के और भी तेज घूमती हुई उसके पैरों के पास आने की क्या संभावना है? इस भ्रामक एवं मिथ्या काव्याशा के पीछे कवित्त-विवेक का कौन सा संदर्भ सक्रिय है और कौन-सा प्रसंग सार्थक है? कायदे से तो जहां बेचैनी है वही सक्रियता भी होनी चाहिए और यह भी कि पृथ्वी के सरोकारों की उपस्थिति से अलग यह सब हो कहां रहा हैं? आलोकधन्वा निश्चित रुप से महत्वपूर्ण कवि हैं। उनकी पूर्ववर्त्ती कविताएँ ही परवर्ती कविताओं को चुनौती देती हैं, कभी-कभी फीका और कभी-कभी फालतू भी करार देती हैं। आलोकधन्वा की कविताएँ शिखर से शुरु होती हैं और निरंतर ढलानों में उतरती चली जाती हैं। इन ढलानों में कहीं घास के मैदान भी हैं, झरने भी और खाइयां भी। आलोकधन्वा के काव्य-विकास का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो सकता है कि किस प्रकार एक महत्वपूर्ण कवि बहुत बोलती हुई कविता की दुनिया से निकलकर बिलाये हुए कथ्य की दुनिया में नागरिकता की तलाश करने लग जाता है। यही कारण है कि न दीखे चरवाहे के बारे में कवि का अनुमान यह है कि "सो रहे होंगे/ किसी पीपल की छाया में/ यह सुख उन्हें ही नसीब है।" यह व्यंग्य तो नहीं है! इसे व्यंग्य मानना तो और अधिक भयावह है! तो क्या सचमुच इस सुख के लिए उन्हें अपने नसीब का शुक्रगुजार होना ही चाहिए या शर्मसार होना चाहिए, अपने कवि की इस टिप्पणी और ईर्ष्या पर कि वह उनकी सबसे बड़ी बदनसीबी को खुशनसीबी के रुप में भद्रजनों के बीच ले जाने के लिए उत्सुक है। क्या इसका संकेत सस्ती सिगरेट के साथ देने की कृतज्ञता में भी नहीं है? सरकार ने न सही लेकिन और भी बहुत सी चीजें हो सकती थी जो साथ देने वालों में गिना जा सकता था। सिगरेट जिस रुप में कविता में आयी है वह कविता को पूरी संवेदना को अगर खारिज नहीं भी करती है तो भी कम से कम साथ देनेवाली अन्य चीजों को अवहेलित जरुर करती है। यह अवहेलना खुद कवि की अंतश्चेतना का भी पता देती है। यदि किसी सिगरेट कंपनी का ध्यान इस पर चला जाये तो वह अपने विज्ञापन में इसका उम्दा इस्तेमाल कर ले जाये! जी हां, भूलने की भी कीमत मिलती है और जो यह जानता है वह कीमत वसूलना भी देर सबेर सीख लेता है। आलोकधन्वा की कविताओं में आये विकास का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो सकता है कि आंदोलन और कविता की मूल प्रतिज्ञा को एकमएक करने के क्या बुनियादी खतरे हो सकते हैं। जरा-सी गफलत में पड़ते ही यह खतरा पूरी काव्य चेतना को बिखेर कर रख देती है। आंदोलन और कविता के रिश्तों की पड़ताल करनेवालों के लिए आलोकधन्वा का काव्य-विकास एक सार्थक उदाहरण हो सकता है।

बहरहाल, अरुण कमल और आलोकधन्वा दोनों अपने-अपने कारणों से समकालीन हिंदी कविता के महत्वपूर्ण कवि है। शरद, आकाश, भादो, घूमती हुई पृथ्वी, हल्की और धुनी हुई हवा, छत, मुंडेर और दुनिया आदि दोनों के काव्य-संस्कार में ध्वनित-अंतर्ध्वनित होनेवाले भाव-शब्द हैं। दोनों एक ही तरह के यथार्थ का अर्जन करते हैं लेकिन अरुण कमल का फलक अधिक बड़ा है जबकि यथार्थ के सर्जन में दोनों अपने-अपने ढंग से दक्ष हैं -- आलोकधन्वा में भाषिक चमक अधिक है तो अरुण कमल में सांस्कृतिक धैर्य अधिक है। अरुण कमल रोज कुछ बनने, रोज कुछ घटने और स्मृति पर से उठते हुए भरोसे के बीच एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती हुई दुनिया की गवाही देते हैं जबकि आलोकधन्वा स्मृति के भरोसे ही दुनिया के रोज बनने के प्रति आश्वस्त दिखते हैं। इस सहस्त्राब्दी के साथ रोज बनती हुई दुनिया के जिस नये इलाके में हम इस समय दाखिल हैं, वहां अरुणकमल के साथ आलोकधन्वा भी शायद ही दिखें।

लोकतांत्रिक जन-चेतना के मनोरथ के अनुरुप सामाजिक मनोरचना का सांस्कृतिक पुनर्गठन नहीं हो सका और न ही इसकी कोई सार्थक एवं समानांतर प्रक्रिया ही प्रारंभ हो सकी। ऊपर से शीघ्र विकास के तीव्र आकर्षण ने संस्कृति की सामाजिक बुनावट के परंपरानुमोदित प्रतीकों एवं प्रकार्यों को एक झटके में फालतू करार दिया। ऋण के माध्यम से एकार्थिक विकास के बल पर जिस नयी सामाजिकता को उपलब्ध करने का फैसला किया गया वह सामाजिक यथार्थ के विकास के क्रम में छल ही साबित होता गया है। समय रहते साहित्य इस स्थिति की गंभीरता के प्रति सचेत नहीं हो पा रह

है। इससे लोक-मंगल की कामना का स्वाभाविक अभिज्ञात प्रतिफलन अवरुद्ध हुआ। लोक मंगल का संगति के क्रम में सामाजिकता की सांस्कृतिक बुनावट का पुनर्न्वेषण साहित्य का महत्वपूर्ण कार्य प्रभार है। फालतू के जीवित और मृत अंश में फर्क करनेवाले विवेक के अभाव में यह काम असंभव है। इस विवेक के साथ कवित्त की करुणा के संयोग का उपयोग करते हुए सामाजिक संरचना की आंतरिक बुनावट के तारों को स्पर्श लोक-मंगल के लिए परम आवश्यक है। जड़ों की ओर लौटती हुई यह दृष्टि किसी प्रतिगामी सोच के फलितार्थ से नहीं बल्कि पीछे छूटती गयी जीवंत लोक चेतना से जुड़ने की जरुरत के अनुभव से पैदा होती है। यही दृष्टि जनता से साहित्य को जोड़ सकती है और लोक-मंगल की पहचान को सुनिश्चित करने की दिशा में पहल कर सकती है। इस नयी पहल की ओर बढ़ने का काव्य-प्रयास ही अरुण कमल की कविताओं को अतिरिक्त महत्व प्रदान करता है।